



साउथ पोल का अंतर है।

भीष्म ने बताया कि बचपन में वह दबू हरगिज नहीं थे। काफी शरारती थे गली-मोहल्ले से जो टप्पे (लोक गीत) और गालियां सीख कर आते, उसका प्रभाव भी उनके मन पर पड़ा, भाई शरीफ समझा जाने लगा और वह आवारा, शायद इसी के कारण वह धीरे-धीरे अन्तरमुखी होते गए, जिसे घर में उनकी विनम्रता कहीं-कहीं अतिविनम्रता समझी जाने लगी। भाई को अक्सर वीर नायक की भूमिका में देखते रहने के कारण, उनकी अपनी स्वतंत्र सोच धीरे-धीरे शिथिल पड़ने लगी। पिता के साथ व्यापार में काम करते-करते जैसे उनकी भूमिका निश्चित हो गई थी पर बीच-बीच में मन में हलचलें भी उठती थी, कभी-कभी छोटे-मोटे शौक पूरे करने का भी अवसर मिल जाया करता था, जिसके लिए कभी-कभी हल्का सा विरोध भी करना पड़ता था।

उन दिनों नाटकों में लड़कियां अभिनय नहीं कर सकती थी। उनको मंच पर लाने प्रस्ताव जब भीष्म ने रखा तो कॉलेज वालों ने इंकार कर दिया। नाटक का मंचन अन्यत्र करना पड़ा बहुत बावेली मचा पर नाटक खेला गया, रावलपिंडी शहर में उन दिनों यह मामूली बात नहीं थी। उनके लिए यह भाई की, अपने कॉलेज के अध्यापकों की छाया से मुक्त होने का संघर्ष था, किसी दूसरे की भूमिका अपनाकर व्यक्ति जूझ नहीं सकता, उसे अपने बलबूते का सहारा लेना पड़ता है।

बलराज जैसा कि उनका स्वभाव था वह प्रायः भीष्म पर हावी रहते थे, झगड़ा-बहस-मुबाहिसा बहुत होता था बचपन से शुरू होकर यह सिलसिला वर्षों तक चलता रहा। बचपन में तो कई बार गुत्थम-गुत्था भी हो जाते थे। बलराज लंदन से लौटे तो वह मार्क्सवादी बन चुके थे, पाकिस्तान के सवाल को लेकर बड़ी बहस होती थी; आमतौर पर एक-दूसरे को अपने विचार व्यक्त करने

और दूसरे को मनवाने की कोशिश रहती थी। बंटवारे के बाद बलराज इष्टा में सक्रिय थे बाद में भीष्म भी बम्बई चले आए। यहां पर भी बहसों की गुंजाइश थी। राजनीति पर तो बहस सदा चलती रहती। बलराज जब बड़े उत्साह से पंजाबी भाषा की ओर उन्मुख हुए तो बहसों में तूफान ही आ गया। वह भीष्म पर भी दबाव डालते थे कि वह भी पंजाबी में लिखे। भीष्म सैद्धांतिक रूप से इस प्रस्ताव से सहमत हो जाते थे किन्तु व्यवहार में कदम उठाने की हिम्मत नहीं पड़ती थी।

समय-समय पर आदमी तरह-तरह के सपने देखता है पर वे तात्कालिक परिस्थितियों के साथ कहीं जुड़े रहते हैं। नाटक खेलने वालों की दृष्टि में उत्कृष्ट अभिनय करने के सपने होते हैं, एक युवा व्यापारी के मन में निरन्तर संवरते व्यक्तित्व के सपने होते हैं पर भीष्म जी ने बताया कि उनके सपने अधिकतर दिवास्वप्न हुआ करते थे, ऐसे सपने जिनसे कोई बहुत बड़ी महत्वाकांक्षा छिपी हो। मैं नहीं देख पाता था अन्दर ही अन्दर यह पूर्वाग्रह छिपा बैठा था कि महत्वाकांक्षा की लम्बी-चौड़ी उड़ानें भरने से बनता कुछ नहीं धरती के साथ-साथ चलना ही बेहतर है।

साहित्य सृजन की बात चली तो भीष्म जी ने बताया घर में बलराज के कृतित्व और फुफेरी बहन सत्यवती, पुरुषार्थवती और बहनोई चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के लेखन का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा। स्कूल के दिनों में पहली कहानी लिखी थी। कुछ कविताएं भी जो कॉलेज की मैगजीन में छपी थी। “नीली आंखें” शीर्षक से पहली कहानी हंस में छपकर आई तो बड़ा प्रोत्साहन मिला, उस समय तक लगता था कि साहित्य सृजन एक कठिन क्रियाकलाप है तथा उत्कृष्ट प्रतिभा की अपेक्षा रखता है। दो कहानी संग्रह प्रकाशित हो जाने तक यह मनःस्थिति बनी रही। चेकोस्लोवाकिया की यात्रा के दौरान निर्मल वर्मा और

भीष्म साहनी ने एक जगह पर स्वीकारा कि “हम न तो स्वयं को लेखक कह सकते हैं और न ही ऐसा मानते हैं।” ऐसी स्थिति मास्को से लौटने तक रही तत्पश्चात गंभीरतापूर्वक लिखने का दौर आरंभ हुआ।

जो साहित्य जीवन तथा उसकी विडम्बना पर आधारित होता है वह कालजयी होता है। उसमें पाठक की भूमिका भी बहुत महत्वपूर्ण होती है। उसमें लाग लपेट नहीं होती। सीधी साफ प्रतिक्रिया होती है- भीष्म बता रहे थे लेखक को निश्चय ही अजनबी अनजान पाठकों के पत्रों से प्रोत्साहन मिलता है इसीलिए कहानी में सम्प्रेषणीयता की स्थिति स्पष्ट होनी चाहिए। आलोचक की भूमिका दूसरे प्रकार की होती है वह अपनी साहित्यिक मान्यताओं के आधार पर रचना के गुण-दोष बता सकता है, पर रास्ता नहीं दिखा सकता। आलोचना जहां रचनात्मक धरातल पर रहती है तो साहित्य के विकास में अमूल्य भूमिका निभाती है पर फतवे देने वाली आलोचना साहित्य के विकास में साधक न होकर बाधक ही होती है। लेखक का उद्देश्य पाठक के दिल तक पहुंचना होता है। आलोचक के दिमाग तक नहीं।

भीष्म जी ने कहा- आज इत्मीनान से बैठकर लिखने की परम्परा छूटती जा रही है। साहित्य सृजन के क्षेत्र में एक प्रकार का तनाव आ गया है। इस क्षेत्र में परस्पर होड़ सदा से रही है इधर कुछ अधिक हो गई है। अधिकांश लेखक पुरस्कार एवं सत्कार पाने की जल्दी में हैं। एक अच्छी किताब का प्रकाशन सामाजिक घटना नहीं बन पाती यह स्थिति अन्य भारतीय भाषाओं में नहीं है। बंगला में किसी अच्छी पुस्तक का प्रकाशन अथवा किसी अच्छे नाटक की प्रस्तुति विशाल जनसमुदाय के लिए एक सांस्कृतिक घटना बन जाती है, हमारे यहां गिने-चुने लेखकों तक सीमित रहती है।

प्रेमचंद का कथन सही है कि लेखक